IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में धर्म का स्वरूप एवं समीक्षा

Dr. Sanoo Tiwari

Assistant Professor

Department of Philosophy C.M.P. Degree College.

धर्म की अवधारणा- धर्म हमारे समाज का एक बहुत ही महत्वपूर्ण मौलिक स्तंभ है और प्रायः सभी लोग किसी न किसी रूप में धर्म की अवधारणा से अपने आपको जुड़ा हुआ पाते हैं किंतु महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि धर्म से क्या समझा जाता है । यहां यह जानना आवश्यक है कि समाज में सामान्यतः लोग धर्म को किस प्रकार से समझते हैं। बाद में मैं इस ओर भी ध्यानाकर्षण करूंगी कि धर्म का वास्तविक अर्थ कैसे समझा जाना चाहिए और उसके वास्तविक अर्थ को समझने से क्या लाभ हो सकते हैं तथा इसके विपरीत धर्म के विषय में जो सामान्य लोक अवधारणा है वह किस प्रकार से व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों को नकारात्मक रूप से भी प्रभावित कर सकता है। जहां तक धर्म की लोक अवधारणा की बात है तो सामान्यतः यह देखा जाता है कि धर्म के जो बाह्य पक्ष हैं विशेषकर सामुदायिक पक्ष हैं जैसे रीति रिवाज, विशेष पर्व, त्यौहार, आचार विचार से सम्बन्धित नियम और प्रतिबंध इन्हीं चीजों के समुच्चय के रूप में उस धर्म को प्रायः लोग समझते हैं।

जहां तक इसके सैद्धांतिक पक्षों की बात है या विभिन्न धर्मों के जो मूल ग्रंथ हैं, धर्म ग्रंथ हैं तो प्रायः बड़ी संख्या में उस धर्म के लोगों का उससे विशेष परिचय नहीं होता है। सामान्यतः लोग थोड़ा बहुत ही धर्म से सम्बन्धित बातों को धर्माचार्यों के मुख से सुने होते हैं। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं में, विशेष अध्ययन करें, मनन करें। तो धर्म की अवधारणा कहीं ना कहीं एक छिछले स्तर की और बाह्य पक्ष तक ही सीमित होकर रह गई है। उसका जो आंतरिक स्वरूप है जो वास्तव में ईश्वर सम्बन्धित उसकी मान्यताएं हैं और जो उसका साधनात्मक पक्ष है, उन चीजों के विषय में तथा साथ ही साथ उसके मूल धर्म में चीजों को कैसे प्रस्तुत किया गया है, इस विषय में बहुतायत में लोगों को जानकारी ही नहीं होती है। तो धर्म की इस तरह की अवधारणा ही लोक अवधारणा है। उदाहरण के लिए हम वैदिक परम्परा की बात करते हैं, सनातन परंपरा की बात करते हैं, बहुत सारे लोग इसके अनुयायी हैं, किन्तु पढ़े लिखे लोगों में भी यह देखा जाए कितने लोगों ने वेदों को पढ़ा है या पढ़ने का प्रयास किया है, तो आश्चर्य होगा कि शायद वह संख्या 5% भी ना हो। तो ऐसी स्थिति में जो पढ़े लिखे लोग जो पहले से ही एक छोटी संख्या है पूरे समुदाय की जब उसमें इतनी गंभीरता नहीं है कि वह अपने धार्मिक परम्परा के केंद्र में क्या है उसको समझे तो बाकी लोगों से क्या उम्मीद की जा सकती है और यही हाल लगभग सभी धार्मिक समुदायों का है। तो ऐसी लोक अवधारणा से बहुत तरह की भ्रांतियों का जन्म होता है और उसकी संभावना बनी रहती है जो उस धर्म के लिए भी हानिकारक होता है और ऐसे आधे अधूरे बातों को जानने वाले उसके जो अनुयायी हैं उनके भी व्यक्तिगत जीवन को और जीवन के सभी पक्षों को नाकारात्मक रूप से प्रभावित कर सकता है। यह एक समस्या है। धर्म की हम बात करते हैं, धार्मिक समुदायों की बात करते हैं किन्तु धर्म की जो लोक अवधारणा है, जो सामान्यतः समझ है कहीं ना कहीं एकपक्षीय है। पूर्णतया तो बिल्कुल भी नहीं है , ऐसा कहा जा सकता है।

वैदिक परम्परा में ऋत् एवं धर्म की अवधारणा- वैदिक परम्परा में धर्म का केंद्रीय स्थान है किन्तु धर्म का भी पूर्वगामी जो अवधारणा है, वह ऋत् है, तो धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानने से पहले वेदों में ऋत् का क्या स्वरूप है, यह समझना आवश्यक है। ऋत् शब्द का उद्भव "अनृत् " शब्द से हुआ है। अनृत् पूर्ववैदिक शब्द है जिसका अर्थ मिथ्या या झूठ होता है। इसलिए अनृत् के विपरीत ऋत् शब्द की उत्पत्ति हुई जिसका अर्थ सत्य लिया जा सकता है[1]। देवों को "गोपा ऋत्स्य "[2] और "ऋतायुः"[3] कहा गया है अर्थात् वे ऋत् के संरक्षक और पालनकर्ता हैं। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि "ऊषा ऋत् के पथ का अनुसरण करती है" जो सही पथ है जैसे कि वो उसे पहले से जानती हो वो उसका कभी भी अतिक्रमण नहीं करती। सूर्य भी ऋत् के पथ का अनुसरण करता है[4] । ऋग्वेद में यह भी कहा गया है कि "पूरा विश्व ऋत् पर आश्रित है तथा उसी में गमन करता है।[5] ऋत् की इस अवधारणा से स्पष्ट है कि यह विश्व की भैतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक संतुलन की स्थिति को सुनिश्चित करने वाला सार्वभौमिक सिद्धान्त है।

ऋत् की यही अवधारणा वेदों के बाद के काल में धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुई। जहां धर्म को 'धृ' धातु अर्थात् धारण करने वाला के अर्थ में लिया जाता है। अमरकोष में कहा गया है "धरति लोकान् धृयते वा" अर्थात् जो जगत् तथा उसके सभी प्राणियों को धारण करने का कार्य करता है वह धर्म है[6]। महाभारत में वेदव्यास ने धर्म की परिभाषा दी है -

"धरणाद् धर्ममित्यायुः धर्मो धार्यते प्रजाः।

यस्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।[7]

अर्थात् धारण शब्द से धर्म शब्द बना है, धर्म प्रजा को धारण करता है। जो भी चीज जिसमें धारण करने की क्षमता हो, वह निश्चित ही धर्म है।

वैदिक परम्परा में धर्म की अवधारणा उसके पूर्वगामी अवधारणा ऋत् से बहुत हद तक प्रभावित है तथा ऋत् एवं धर्म इन दोनों की अवधारणाओं में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैश्विक स्तर पर भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक संतुलन एवं सामंजस्य को सुनिश्चित करने वाली यह एक व्यवस्था है और इस सिद्धांत के निरूपण में तथा इसके क्रियान्वयन में ईश्वर की अवधारणा का अनिवार्यतः कोई स्थान नहीं दिखाया गया है। ऐसा नहीं है कि ईश्वर की अवधारणा इसके विरुद्ध है, ईश्वर सम्बन्धित अवधारणा और क्रिया कलाप ऋत् और धर्म के अनुरूप ही होंगे। ये बात समझी जा सकती है। यह भी समझने की बात है कि ईश्वर की अवधारणा इसका अनिवार्य अंग नहीं है अर्थात् सनातन परंपरा में यदि कोई ईश्वर से सम्बन्धित विश्वास नहीं रखें, फिर भी वह ऋत् का और धर्म और वैदिक परम्परा के आदर्शों का पालन कर सकता है। जैसा कि मीमांसा के शुरू के काल की बात होती है तो वहां ईश्वर की अवधारणा नहीं देखी जाती किंतु वह वैदिक परंपरा के अंतर्गत है[8]। तो ईश्वर की अवधारणा को स्वीकार करना वैदिक परम्परा में अनिवार्य नहीं दिखाया गया है। किन्तु यदि कोई ऋत् और धर्म के आदर्शों का उल्लंघन करे तो निश्चित रूप से उसे वैदिक परंपरा में समाहित नहीं किया जा सकेगा। प्रश्न ये उठता है कि ये ऋत् और धर्म की जो अवधारणा है और ईश्वर सम्बन्धी अवधारणाएं हैं जिसको हम सामान्यतः लोक अवधारणा की दृष्टि से देखें तो धर्म को हम ईश्वर से जोड़कर ही देखते हैं, समझते हैं, आज ऐसी ही समझ बनी हुई है, किन्तु जो वास्तव में वैदिक परंपरा में ऋत् का और धर्म का वर्णन किया गया है, वहां ऐसी स्थिति नहीं पाई जाती है। तो इस प्रकार ये देखा जा सकता है कि धर्म एवं ऋत् की जो वैदिक अवधारणा है वह आज की जो प्रचलित धर्म की अवधारणा है , उससे कई मायने में भिन्न है और जिसे धर्म का एक आवश्यक और अनिवार्य स्वरूप देखा जाता है, समझा जाता है, ईश्वर सम्बन्धित जो परंपराएं हैं, पूजा पाठ की इन बातों को ही हम धर्म का केंद्रीय स्वरूप समझते हैं लोक अवधारणा में लेकिन वैदिक परंपरा में तो बिल्कुल ऐसी बात नहीं है। बल्कि वैदिक परंपरा में तो ऐसे भी मत हैं, समुदाय हैं जो ईश्वर की कोई अवधारणा स्वीकार ही नहीं करते हैं किन्तु उसके बावजूद उनको धर्म परंपरा में सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। तो ये समझने की अवश्यकता है कि आज जो धर्म की प्रचलित समझ है वह वैदिक परंपरा और सनातन परंपरा में जो उसकी मूल अवधारणा है, उसके विपरीत है। अब इसके क्या परिणाम हो सकते हैं, यह देखने की जरूरत है।

समकालीन परिप्रेक्ष्य में राजनैतिक सन्दर्भ में धर्म का स्वरूप –

समकालीन परिप्रेक्ष्य में राजनैतिक जीवन में धर्म के स्वरूप की बात की जाए तो निश्चित रूप से हमारा ध्यान संविधान की ओर जाएगा और भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता को उसके प्रस्तावना में ही उद् घोषित किया गया है। किन्तु धर्म निरपेक्षता की जगह इसे पंथ निरपेक्षता कहना ज्यादा उचित है।[9] पंथ निरपेक्षता को लेकर टीका टिप्पणीयां भी हुईं हैं, लेकिन अगर मूल भाव देखा जाए तो पंथ निरपेक्षता का तो निरपेक्ष होने का तात्पर्य तो यही होता है कि उसके सापेक्ष संविधान और राज्य कोई गतिविधि नहीं करेगा, कोई मान्यता नहीं बनाएगा, यही इसकी मूल अवधारणा है तथा यहां पर धर्म से जो तात्पर्य लिया जा रहा है, वह भी कहीं ना कहीं जिस प्रकार से हम इंग्लिश के रिलिजन शब्द को समझते हैं , जो पूजा पाठ की एक पद्धति किसी समुदाय में दिखती है। उस अर्थ में ही धर्म को यहां हम लेते हुए धर्म निरपेक्षता की बात की जाती है। तो धर्म को जहां रिलीजन के अर्थ में लिया जा रहा है और धर्म निरपेक्षता की बात की जा रही है तो इसका भाव ये निकलता है कि एक धार्मिक समुदाय के लोग किस प्रकार से अपने सामाजिक, राजनैतिक जीवन में अपने धर्म से सम्बन्धित मान्यताओं को लेकर आचार - व्यवहार करते हैं, जीते हैं, राज्य को संविधान को उसके प्रति निरपेक्षता रखनी चाहिए, यह संविधान की प्रतिबद्धता है।[10]

किन्तु दूसरी तरफ यह भी देखने को मिलता है कि भारतीय संविधान में समय समय पर धर्म से सम्बन्धित और धर्म के सन्दर्भ में बहुत तरह के संवैधानिक संशोधन किए गए हैं और राज्य के स्तर से भी समुदायों के धार्मिक जीवन में अलग अलग प्रकार से हस्तक्षेप किया गया है और कई स्तरों पर सरकार ने धार्मिक गतिविधियों को नियंत्रित किया है तो ऐसी बहुत सारी चीजें हैं जो धार्मिक समुदायों को विशेष अधिकार, विशेष सुरक्षा भी दी गई हैं, तो भावात्मक, नकारात्मक कई तरह के संशोधन किए गए हैं अलग अलग धार्मिक समुदायों के सन्दर्भ में[11]। निश्चित रूप जो भी यह तत्कालीन संवैधानिक प्रक्रिया थी जिसका पालन किया गया है तभी वो संभव हो पाया है। लेकिन फिर भी प्रश्न तो ये उठता ही है कि जब प्रस्तावना में धर्म - निरपेक्षता की बात की गई है, तो धार्मिक समुदायों के सन्दर्भ में इतने सारे संशोधनों की जरूरत कहां तक इसे संविधान की मूलभूत भावना के अनुरूप समझा जाए या ना समझा जाए । यह प्रश्न चिह्न तो खड़ा करता ही है। दूसरी बात ये है कि जो धर्म की समझ है ये कहीं ना कहीं हमारे राजनैतिक जीवन में लोगों के बीच दीवार तो खड़ी करती ही है क्यूंकि कुछ धार्मिक समुदायों को कुछ विशेषाधिकार मिलते हैं कुछ को अलग अलग प्रकार से बहुत ज्यादा समझौता भी करना पड़ता है। तो राज्य के इस तौर तरीके से राजनैतिक जीवन उससे थोड़ा कहीं ना कहीं असंतुलित होता है सामुदायिक स्तर पर धर्म के नाम पर जो समुदाय है उनके बीच एक परस्पर तनाव की स्थिति भी समय समय पर बन जाती है जो कि राष्ट्र के राजनैतिक जीवन के लिए एक वांछनीय स्थिति नहीं है। इस बिंदु पर ये भी कहा जा सकता है कि यदि वास्तव में सभी धार्मिक समुदायों के प्रति राज्य और संविधान निरपेक्ष रहकर उनके सापेक्ष अलग अलग प्रकार के संशोधन करके उनके धार्मिक जीवन को नियंत्रित करने का, प्रभावित करने का प्रयास न करता है। तो संभवतः वही धर्म निरपेक्षता का वास्तविक स्वरूप होता राज्य की तरफ से। लेकिन ऐसा देखने मे नहीं मिलता है। तो इसके परिणामस्वरूप राष्ट्र के राजनैतिक जीवन में विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच तुलना करने की प्रवृत्ति और उपेक्षित और सुरक्षित दोनों तरह की भावनाएं भी समुदायों में उत्पन्न होती हैं जो राष्ट्र के स्तर पर कहीं न कहीं अंदर से एकता को प्रभावित करती है। जो अच्छी स्थिति नहीं है। यह आज के समय में अपने आप में ज्वलंत समस्या है क्यूंकि आज हम यह देख रहे हैं कि कई समुदायों में टकराहट है, एक दूसरे के प्रति वैमनस्य उत्पन्न हो रह है। ये भाव उत्पन्न होता है कि इस समुदाय को तो राजाश्रय मिला हुआ है। इस समुदाय के साथ तो वैमनस्य होता है तो ये सब भावनाएं राष्ट्र के स्तर पर लोगों के मन में ये किसी भी राष्ट्र के लिए शुभ संकेत तो नहीं है।

समकालीन परिप्रेक्ष्य में सामाजिक जीवन में धर्म का स्वरूप –

सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में भी धर्म की समसामयिक समझ बहुत सारी समस्याओं को खड़ी करता है क्यूंकि धर्म को हम अपने सामुदायिक जीवन से सम्बन्धित रीति रिवाज मान्यताएं इत्यादि से जोड़कर ही प्राथमिक रूप से समझते हैं तो ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन में भी एकरसता की कमी उत्पन्न होती है क्यूंकि लोग अपने आपको धार्मिक समुदायों के नाम पर एक दूसरे से विभाजित और एक दूसरे से भिन्न देखने की प्रवृत्ति पाल लेते हैं और ऐसी स्थिति में अपने जीवन के लिए जो आदर्श हैं, उनके लिए अलग अलग होने लगते हैं, और उससे कहीं टकराहट भी होने लगती है और बाह्य स्तर पर रीति रिवाजों से सम्बन्धित टकराहट की स्थिति उत्पन्न होने लगती है। विशेषकर यह तब ज्यादा कठिन हो जाता है जब राज्य किसी समुदाय की मान्यताओं, रीतियों से सम्बन्धित एक स्पष्ट रुख नहीं रखता है और निष्पक्ष होने का प्रयास करता है और वहां दो समुदायों के बीच इसी बात को लेकर टकराहट की स्थिति उत्पन्न होती है। ये सामाजिक जीवन में धार्मिक समुदायों का जो विभाजन है और उनके जो कभी कभी उत्पन्न होने वाले टकराहट की स्थितियां है उसकी गंभीरता को दिखाता है या कहीं न कहीं सामाजिक जीवन को भी क्षत विक्षत करने की क्षमता रखता है। तो धर्म की ऐसी समझ जो मूल रूप से हमारे सामुदायिक क्रिया कलापों, सामाजिक रीति रिवाजों इत्यादि पर ही टिकी हुई है वो परस्पर सामंजस्य और सन्तुलन की स्थिति को बढ़ाने में बहुत सहायक नहीं दिखती क्यूंकि हमारे धर्म की परिभाषा हमारे धर्म की समझ हमारे समुदाय तक ही सीमित हो जाती है और धर्म जीवन का एक बहुत विशेष पक्ष है। इससे तो इंकार नहीं किया जा सकता।

भले ही हमारा संविधान पंथ निरपेक्ष की बात करे लेकिन व्यक्ति वास्तव में धर्म निरपेक्ष तो नहीं हो सकता। ये उसके मानव स्वभाव के विपरीत है।तो धर्म व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखेगा ही लेकिन उस धर्म को सिर्फ ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं और रीति रिवाजों से ही जोड़ कर देखना, ये अपने आप में बड़ी समस्या बन जाती है क्यूंकि इसका जो मूल पक्ष है जो वैदिक परंपरा में दिखाया गया है यदि उसको ध्यान में रखा जाए तो ये धर्म की अवधारणा हमारे समुदाय तक सीमित नहीं रहती बल्कि अनिवार्यतः पूरे विश्व को अपने क्षेत्र में ले आता है और जब हम धर्म की बात करते हैं, ऋत् की बात करते हैं वैदिक परंपरा के मूल दृष्टि के अनुसार तो वहां पर हम किसी समुदाय या कुछ लोगों के हित सामंजस्य और सन्तुलन की बात नहीं कर सकते। वहां पर हम सिर्फ मनुष्य जाति के लाभ और सन्तुलन की बात नहीं कर सकते। वहां हमे विश्व ब्रह्मांड के सभी अवयवों जैविक और अजैविक सभी अवयवों के बीच सुनिश्चित करने वाले क्रिया कलापों की बात सोचनी होती है, फिर वो सन्तुलन और सामंजस्य चाहे भौतिक स्तर पर हो चाहे नैतिक स्तर पर हो, चाहे आध्यात्मिक स्तर पर हो। जब हम सबके सन्तुलन की बात करते हैं, सामंजस्य की बात करते हैं तो स्पष्ट है कि वहां टकराहट की गुंजाइश ही खत्म हो जाती है। लेकिन जब एक समुदाय यानि कुछ लोगों के समूह के हित की बात करते हैं बिना इस बात की परवाह किए कि दूसरा इससे कैसे प्रभावित हो रहा है या हो सकता है या टकराहट हो सकती है। जब हमारी इस तरह की सोच हो जाती है तो यह निश्चित रूप से समाज में सामाजिक जीवन में और राजनैतिक जीवन में उथल पुथल और असंतुलन उत्पन्न करने की क्षमता रखता है जो एक गंभीर मसला है।

समाधान की राह –

अब तक विवेचित बिंदुओं को ध्यान से देखने पर यह समझ में आता है कि धर्म की लोक अवधारणा के ही अनुरूप संविधान में भी धर्म की अवधारणा और धर्म निरपेक्षता की अवधारणा मिलती है। किन्तु वैदिक परम्परा में धर्म और ऋत् की जो अवधारणा है वह इन सबसे काफी भिन्न है तथा हम लोगों ने यह भी देखा कि किस प्रकार से सम सामयिक लोक अवधारणा विभिन्न प्रकार की तनाव की स्थिति को उत्पन्न करता है और उसकी क्षमता रखता है। तो क्या इस परिस्थिति में सुधार की कोई गुंजाइश है और अगर है तो किस दिशा में हो सकती है। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। इस दिशा में मैं तो यही कहना चाहूंगी कि वैदिक परंपरा में जो मूल अवधारणा है ऋत् की और उससे उत्पन्न धर्म की अवधारणा कहीं ना कहीं उस ओर वापस जाने की जरूरत है तथा दूसरी बात यह है कि जहां तक धर्म के बाह्य पक्षों की बात है, रीति रिवाज आचार व्यवहार से सम्बन्धित तो इब चीजों को व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रखने की जरूरत है तभी सही मायने में राजनैतिक जीवन में धर्म निरपेक्षता का आदर्श प्राप्त किया जा सकेगा तथा साथ ही अपने व्यक्तिगत जीवन में धर्म को अपनी मान्यता के अनुसार अपनी स्वतंत्रता के अनुसार जीने का भी अवसर मिलेगा। तो कहीं न कहीं ये जरूरी लगता है कि सामुदायिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन के भेद को समझा जाए

और धार्मिक क्रिया कलापों को व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्र तक ही सीमित रखा जाए और जहां तक सामुदायिक जीवन है चाहे वो सामाजिक हो या राजनैतिक हो तो वहां पर धर्म से सम्बन्धित धर्मिक समुदायों से सम्बन्धित भेदभाव की स्थिति को किसी भी प्रकार से प्रश्रय देना या राज्याश्रय देना उचित नहीं प्रतीत होता है क्यूंकि ऐसा करना राष्ट्र के सामाजिक एवं राजनैतिक ताने बाने को नुकसान पहुंचा सकता है तथा दूसरी ओर धर्म का जो मूल स्वरूप है सामंजस्य एवं सन्तुलन से सम्बन्धित उस पर अगर ध्यान दिया जाए, उस अर्थ में धर्म की अनिवार्यता को समझा जाए तो वह सबके लिए ही हितकारी है। न सिर्फ सामुदायिक जीवन में बल्कि हर प्रकार के सन्दर्भ में वो पूरी मनुष्य जाति और विश्व के लिए हर प्रकार से कल्याणकारी ही है। तो उसको ही जीवन के आदर्श के रूप में समझने और स्वीकार करने की अवश्यकता है क्यूंकि इसी में व्यक्ति का और समाज का, विश्व का हित निहित हो सकता है।

लेकिन ईश्वर सम्बन्धित मान्यताओं और क्रिया कलापों के सन्दर्भ में अगर धर्म को समझा जाए तो धर्म के इस स्वरूप को और उससे सम्बन्धित क्रिया कलाप और मान्यता आदि को व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रखने की अवश्यकता है। तो इस प्रकार मेरा प्रस्ताव है कि धर्म के ये जो दो प्रकार के अर्थ हैं धर्म का जो प्रचलित अर्थ है जो ईश्वर सम्बन्धित मान्यताओं, रीति रिवाजों से सम्बन्धित है और दूसरा जो मूल स्वरूप है वैदिक परंपरा में सामंजस्य और सन्तुलन से सम्बन्धित इन दोनों के भेद को स्पष्टता से समझा जाए और इसके मूल स्वरूप को एक समान्य आदर्श के रूप में लेकर के आज के युग में लेकर चलने की जरूरत है जबकि इसका जो प्रचलित अर्थ है मान्यताओं, क्रिया कलापों से सम्बन्धित व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रखने की जरूरत है । ऐसा करने से सही अर्थों में संविधान का धर्म निरपेक्षता भी सुरक्षित होगा, वैश्विक हित भी सधेगा और राजनैतिक और सामाजिक स्तर पर आपसी टकराहट की गुंजाइश भी कम होगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ऋत् सत्यं परम ब्रह्म - तैत्तिरीय आरण्यक (16-13-27-12)

2. शर्मा, चंद्रधर, अ क्रिटिकल सर्वे ऑफ इंडियन फिलासफी , पृष्ठ - 16, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1987.

3. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, इंडियन फिलासफी, भाग -1 - पृष्ठ ,54 ,नई दिल्ली ,ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस , 2008.

4. ऋग्वेद, 1-2 -4 -8

5. ऋग्वेद 4-23-9

6. सिंह, अमर, अमरकोषः, प्रथम काण्ड, शब्दादि वर्गः 6, श्लोक -3 , पृ. सं. 64, चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1985.

7. महाभारत, कर्ण पर्व 69-59

8. सिन्हा, प्रो. हरेंद्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 288, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1963.

9. पांडेय, ऋषिकांत, धर्म दर्शन, पृष्ठ 437, पियर्सन, दिल्ली, 2016.

10. पांडेय,ऋषिकांत437 पृष्ठ ,धर्म दर्शन ,, 438 पियर्सन ,दिल्ली ,2016.

11. पांडेय4 पृष्ठ ,धर्म दर्शन ,ऋषिकांत,45, 446 ,दिल्ली ,पियर्सन ,2016.